ISSN (Online): 2583-5777 पूर्वोत्तर प्रभा, वर्ष-2, अंक-2 (जुलाई-दिसंबर, 2022)

पूर्वोत्तर प्रभा

(सिक्किम विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित अर्धवार्षिक शोध पत्रिका)

Journal Home Page: **http://supp.cus.ac.in/**

जड़ों की तलाश करती आदिवासी कविताएं

डॉ. सरोज लामा

अतिथि प्राध्यापक

सिक्किम विश्वविद्यालय

ईमेल: sarojl836@gmail.com

शोध सार : आदिवासी समाज एक स्वतंत्र समाज है। इनका अपना भूगोल और इतिहास रहा है। इनकी अपनी संस्कृति, अपनी भाषा-शैली, अपना रहन-सहन और खान-पान इसे अन्य समुदायों से अलगाता है। अपनी शुरुआती दिनों से ही इस समुदाय की अपनी स्वायत्ता रही है। लेकिन आज इस समुदाय की स्वायत्ता का हनन हो रहा है। दिन-प्रतिदन इस समुदाय की स्थिति शोचनीय होती जा रही है। सभ्यता के विकास के नाम पर इस समुदाय को जंगलों और पहाड़ों से खदेड़ा जा रहा है। विकास की इस प्रक्रिया में आदिवासियों ने विस्थापन, शोषण, अन्याय, अत्याचार आदि बहुत कुछ झेला है। समकालीन आदिवासी कविताएँ अपने साथ इन्हीं आदिवासियों की गहन अनुभूतियों को लिए हुए हैं। आदिवासी कविता आदिवासियों से छिने गए जल-जंगल-ज़मीन की वकालत करती है। आदिवासी कविता के मूल में विस्थापित हो रहे आदिवासियों की चिंता दिखाई देती है। विस्थापन के कारण जहाँ आदिवासी-जन एक ओर अपने पूर्वजों से कट रहे हैं वहीं विस्थापन के बाद आदिवासी एक सस्ते मजदूर में तब्दील होते जा रहे हैं। दोनों ही स्थिति में आदिवासी अपनी जड़ों से कटते जा रहे हैं। प्रस्तुत आलेख में समकालीन आदिवासी कविता किस तरह अपने छिने हुए जंगल-जमीन और काटे गए जड़ों की तलाश करती है, उसे दिखाया गया है। साथ ही आदिवासी

कविता अपने समय और समाज से संवाद करते हुए किस तरह सत्ता में आसीन विधाता से प्रश्न करती है, उसे भी दर्शाया गया है।

बीज शब्द : आदिवासी, आदिवासियत, जंगल, ज़मीन, पहाड़, विस्थापन।

मूल आलेख

जड़ों की तलाश वही करता है जिसे अपनी जड़ों से काट दिया हो। 'आदिवासी' शब्द केवल एक समूह सूचक शब्द नहीं है। इस शब्द के पीछे आदिवासियों का इतिहास और भूगोल छिपा हुआ है। आदिवासी शब्द आदिवासियों की आदिवासियत व्यक्त करता है। लेकिन जब भारतीय संवैधानिक व्यवस्था के अंतर्गत इस समुदाय के नामकरण की बारी आई तो भारतीय संविधान ने इसे 'अनुसूचित जनजाति' नाम दिया। इस तरह एक ही झटके में भारतीय संविधान ने आदिवासियों को उनके इतिहास और भूगोल से अलग कर दिया या यूँ कहे की इस समुदाय को उन्हीं की जड़ों से काट दिया। उसी समय से ही आदिवासी अपनी पहचान और अपनी अस्मित्ता के लिए संघर्षरत्त है। पहले यह संघर्ष सिर्फ शारीरिक था लेकिन समय परिवर्तन के साथ-साथ इस समुदाय में बौद्धिकता आती गई। अब यह लड़ाई सिर्फ तीर-धनुष की नहीं रही, इसमें कलम भी जुड़ गए हैं। समकालीन आदिवासी कविताएँ इसी का एक रूप है।

सहजीविता आदिवासी समाज का दर्शन है। सृष्टि की शुरुआत से ही आदिवासी और जंगल-पहाड़ एक-दूसरे के सहयात्री रहे हैं। आदिवासी और जंगल के बीच पारस्परिक कल्याणकारक सहजीविता रही है। जल-जंगल-ज़मीन से आदिवासियों का जीवन रचा-बसा है। आदिवासियों को कविता करने की प्रेरणा भी प्रकृति से ही मिली है। इसीलिए समकालीन युवा आदिवासी कवि अनुज लुगुन कहते हैं -"सुगना मुंडा जंगल का पूर्वज है/ और जंगल सुगना मुंडा का/ कभी एक लतर था तो दूसरा पेड़/ कभी एक पेड़ था तो दूसरा लतर/ यहां संघर्ष का सच भी था/और सौन्दर्य का आत्मिक स्पर्श भी/ दोनों सहजीवी थे/दोनों के लिए मृत्यु का

कारण था/एक-दूसरे से अलगाव।" (लुगुन, बाघ और सुगना मुंडा की बेटी, 2019) 'सुगना मुंडा' और कोई नहीं बल्कि आदिवासी-जन का प्रतिनिधि है जो अपना पूर्वज जंगल-पहाड़ को मानता है। लेकिन औपनिवेशिक और नव-वैश्विक प्रक्रिया के नाम पर आज 'सुगना मुंडा' को उनके पूर्वजों से अलग किया जा रहा है। आदिवासियों को उनके ही जंगलों और पहाड़ों से खदेड़ा जा रहा है। इससे वन-जंगल और उसके उत्पादन आदिवासियों के हाथों से छूटता जा रहा है। यह अलगाव दोनों समुदाय के लिए मृत्यु का कारण बनता जा रहा है। एक तरफ़ जंगल नाश होता जा रहा है, तो दूसरी ओर आदिवासी अपने अस्तित्व की लिए संघर्ष कर रहे हैं। इस प्रक्रिया ने आदिवासी समुदाय को फिर से शोषण के नए दौर में धकेल दिया है। इसकी और इशारा करते हुए रमणिका गुप्ता लिखती हैं - "जंगल माफिया कीमती पेड़ उससे सस्ते दामों में खरीदकर, ऊँचे दामों में बेचता है और करोड़ पति बन जाता है। पेड़ काटने के आरोप में आदिवासी दंड भरता है या जेल जाता है। सरकार के ऐसी नीतियों के कारण आदिवासी ज़मीन के मालिक बनने के वजाए पहले मज़दूर बने फिर बंधुआ मज़दूर।" (गुप्ता, पृ. 12) अज्ञान, पिछड़ेपन, उचित शिक्षा और जागरुकता की कमी के कारण आदिवासी-जन सरकार की दोहरी नीति को नहीं समझ पाए। और आज आदिवासी अपनी ही जगह-ज़मीन में मालिक बनने के बजाए मजदुर बने हुए हैं।

विस्थापन आदिवासियों की सबसे जटिल समस्या है। सभ्यता के विकास के साथ ही आदिवासियों का भी विस्थापन और पलायन होता गया। इस कड़ी में आदिवासियों से जल-जंगल और ज़मीन तो छूटा हीं, साथ-ही-साथ उनकी अपनी संस्कृति, अपनी भाषा, जीवन-शैली भी छूटती गयीं। विस्थापन के कारण ही आदिवासियों की कई नस्ल भी खत्म होने लगी है। विस्थापन के कारण अब आदिवासियों के अस्तित्व पर प्रश्न खड़ा होने लगा है। लाचार और बेबस आदिवासी 'अपने होने का अर्थ' को बचाने के लिए 'धरती के इस छोर से उस छोर' भटक रहे हैं। बकौल निर्मला पुतुल- धरती के इस छोर से उस छोर तक/ मुट्ठीभर सवाल लिए मैं/ दौड़ती-हांफती-भांगती/ तलाश रही हूं/सदियों से निरंतर/अपनी ज़मीन, अपना

घर/अपना होने का अर्थ।" (पुतुल, नगाड़े की तरह बजते शब्द, 2004) लेकिन यहाँ इन सदियों से संतप्त लोगों की गुहार सुनने के लिए कोई 'भारत भाग्य विधाता' नहीं है।

आज विकास के नाम पर जंगल अंधाधुंध काटे जा रहे हैं। आदिवासियों को वन-जंगल से खदेडा जा रहा है। जंगल काटने और वहां से आदिवासियों को खदेड़ने की प्रक्रिया में मानवता तिल-तिल मर रही है। लेकिन सभ्य समाज को इसकी कोई परवाह नहीं है। लेकिन एक कवि का कलम इसे अनदेखा नहीं कर सकता। तभी कवि लिखते हैं - "बहुत कम बच रहा है ऑक्सीजन/इसका मतलब यह नहीं कि जंगल कट रहे हैं/या ग्रीन हाउस का उत्सर्जन बढ़ गया है/ इसे इस तरह भी समझा जना चाहिए कि किसी एक आदमी/या किसी एक की जातीयता और राष्ट्रीयता की बात/अचानक लाखौं लोगों को मौत की नींद सुला सकती है।" (लुगुन, 2021) जंगलों को काटकर और आदिवासियों को खदेड़कर वहां एक नयी चमचमाती सभ्यता की नीव खड़ी की जा रही है। लेकिन वह नींव जितनी बाहर से चमचमाती दिखाई देती है उतनी ही अंदर से खोखली है, जो सभ्यता के भार को ज्यादा दिनों तक नहीं ढो पायेंगी। आज सभ्य समाज के बुद्धिजीवी वर्ग इस चमचमाती सभ्यता में आदिवासियों को शामिल करने के बहाने आदिवासियों के जंगल और पहाड़ पर धीरे-धीरे कब्ज़ा करते जा रहे हैं। आदिवासिओं की सभ्यता पर बुलडोज़र चलाकर सड़कें बनाई जा रही है। विकास की ऐसे दूषित अवधारणा को आदिवासी कवि जसिंता केरकेट्टा भलीभांति जानती हैं और अपनी कविता 'सच बोलती सड़क' में कहती हैं -"नई सड़कें बतलाती हैं/विकास के नाम पर ही/ उखाड़ी जा सकती हैं जड़ें/पेड़ और आदमी दोनों की।" (केरकेट्टा, 2022) केरकेट्ट आदिवासी कवि होने के कारण पेड़ और उसकी जड़ों के महत्व को जानती हैं, वह जानती हैं कि पेड़ और जड़ों से विच्छेद होना मतलब अपने पूर्वजों से अलग होना है और अपने पूर्वजों से विच्छेद का अर्थ आदिवासियों के लिए अपने अस्तित्व की जड़ों को काटने के बराबर है।

आदिवासी क्षेत्र प्राकृतिक संसाधनों और खनिज संपदाओं से परिपूर्ण है। प्राकृतिक संसाधनों और खनिज संपदाओं से परिपूर्ण होना ही आदिवासियों की जमीन के लिए अभिशाप साबित हुआ है। सरकार और निवेशकों की पैनी नजर इन्ही संसाधनों पर टिकी हुई है। सरकार विकास का 'टैग' लगाकर इन क्षेत्रों को गैर सरकारी प्रतिष्ठानों या निवेशकों के हाथों सौप रही है। अत: हजारों सालों से बसोबास करते आ रहे आदिवासियों को एक ही झटके में अपनी ही जमीन से बेदखल किया जा रहा है। समकालीन आदिवासी कवि हरिराम मीणा लिखते हैं - सभ्यता के नाम पर/आखिर कर दिए जाओगे बेदखल/हजारों सालों की तुम्हारी पुश्तैनी भौम के/कोई और होंगे अब क़ानूनी हकदार/नारियल के इन दरख्तों के।" (मीणा, 2006)

भारत सरकार द्वारा आदिवासियों और उनकी ज़मीनों की रक्षा के लिए कई अधिनयम बनाए गए हैं। लेकिन साथ ही केंद्र सरकार ने राज्य सरकारों को यह छूट दे रखी हैं कि राज्य सरकार विकास कार्य हेतु सार्वजनिक हितों के लिए आदिवासियों की ज़मीनों का अधिग्रहण कर सकती हैं। इस तरह सरकार कानूनी व्यवस्था देकर गैर-आदिवासियों को आदिवासी क्षेत्र में प्रवेश दे रही हैं। फलतः आदिवासी राज्य सरकार और केंद्रीय सरकार के इस दोहरी नीति में पीसकर सैंडविच बन गया है। समकालीन कवि वहरू सोनवणे अपनी कविता 'चाँद पर जाने वाले लोग' में इसकी ओर इशारा करते हुए लिखते हैं - "तेजी से निकला एक और आदेश/उखड़ती चली गई एक-एक झोंपडी/बुझ गयी झोंपडी की लालटेन/कदम-कदम पर पसरा अँधेरा/बाल बच्चों के आंसू रोकने के लिए/नहीं बचा आँगन/अब तुम ही बताओ/कौन है हमारा इस धरती पर?" (सोणवणे, 2009) प्रस्तुत कविता स्पष्ट रूप में बया कर रही है कि किस तरह सरकार आदेश पर आदेश निकालती जाती है और आदिवासियों की ज़मीन, उनका घर-बार और उनका आँगन उनसे छीनता चला जाता है।

समकालीन आदिवासी कविताओं में संघर्ष और प्रतिरोध के स्वर भी सुनाई देती है| आदिवासी कविताएँ अपनी हालत, अपनी स्थिति और अपनी नियति का रोना ही नहीं रोती बल्कि इन हालातों-स्थितियों से लड़ने-जूझने-संघर्ष करने और अपनी नियति को बदलने की हिमाकत भी रखती हैं। सदियों से बसोबास करते आ रहे वनों-जंगलों और पहाड़ों को बचाने के लिए आदिवासी जन अब तैयार हो गए हैं एक नयी उलगुलान के साथ-"अक्सर चुप रहने वाला आदमी/कभी न कभी बोलेगा जरुर सर उठाकर/चुप्पी टूटेगी एक दिन धीरे-धीरे उसकी/धीरे-धीरे सख्त होंगे उसके इरादे/और तनेंगी मुट्ठियाँ आकाश में व्यवस्था के खिलाफ/भीतर इजाद करते कई-कई खतरनाक शस्त्र।" (पुतुल, नगाड़े की तरह बजते शब्द, 2004)

आदिवासी कविताएँ मात्र कविताएँ नहीं हैं बल्कि यह जंगलों और वहां सदियों से बसोबास करते आ रहे आदिवासियों की आपबीती हैं। परतंत्र और स्वतंत्र भारत में इन अदियासियों ने अन्याय, अत्याचार, अस्तित्व संकट, विस्थापन, अस्मित्ता-बोध, नक्सलवादी कहलाने का दंश आदि जितना कुछ झेला है उन सबका लेखा-जोखा प्रस्तुत करती हैं आदिवासी कविताएँ। रोटी-कपड़ा-मकान आदिवासियों की समस्या नहीं है। आदिवासियों की मूल समस्या जंगल-ज़मीन की है। जंगल-ज़मीन से आदिवासियों का अस्तित्व जुड़ा हुआ है। जंगल-ज़मीन और पहाड़ से इनकी जड़ें जुड़ी हुई हैं. जड़ों से कटना मतलब अपनी अस्मित्ता और स्वायत्तता को खोना है. अत: जंगल-ज़मीन और पहाड़ बचा रहा तो आदिवासियों की जड़ें भी बची रहेंगी।

संदर्भ-सूचि:

केरकेट्टा, ज. (2022). *ईश्वर और बाज़ार.* नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.

गुप्ता, र. (n.d.). आदिवासी विकास से विस्थापन. 12.

पुतुल, न. (2004). *नगाड़े की तरह बजते शब्द.* नई दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ.

पुतुल, न. (2004). *नगाड़े की तरह बजते शब्द.* नई दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ.

मीणा, ह. (2006). *सुबह के इंतज़ार में.* नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.

लुगुन, अ. (2021). *पत्थलगड़ी.* नई दिल्ली: 2021.

लुगुन, अ. (2019). *बाघ और सुगना मुंडा की बेटी.* नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन.

सोणवणे, व. (**2009**). *पहाड़ हिलने लगा.* दिल्ली: शिल्पायन प्रकाशन.